The Academic
International Journal of Multidisciplinary Research

An Online Peer Reviewed / Refereed Journal
Volume 4 | Issue 2 | February 2026
ISSN: 2583-973X (Online), SJIF IF: 5.6
Website: www.theacademic.in

ब्रिटिश भारत में औपनिवेशिक न्यायालय का वैचारिक प्रतिरोध और जन-राजनीतिक संप्रेषण के स्थल के रूप में उपयोग : भगत सिंह मुकदमा (1929 ई.-1931 ई.) का इतिहासपरक अध्ययन

रजनीकांत सिंह

शोधछात्र, इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार, rajkantsingh04@gmail.com

डॉ रितेश्वर नाथ तिवारी

असिस्टेंट प्रोफेसर , इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा, बिहार, tiwaririteshwar@gmail.com

DOI : https://doi.org/10.5281/zenodo.18899811

ARTICLE DETAILS

Research Paper

Accepted: 22-02-2026

Published: 10-03-2026

Keywords:

लाहौर षड्यंत्र केस; औपनिवेशिक न्यायालय; वैचारिक प्रतिरोध; जन-राजनीतिक संप्रेषण; प्रवचनात्मक विश्लेषण; औपनिवेशिक विधि; सत्ता-ज्ञान; वर्चस्व; प्रतिवर्चस्व; राजनीतिक प्रदर्शन

ABSTRACT

प्रस्तुत शोध-पत्र भगत सिंह के मुकदमे के संदर्भ में औपनिवेशिक न्यायालय के प्रतिरोधी रूपांतरण का इतिहासलेखनात्मक एवं प्रवचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अध्ययन का केंद्रीय प्रतिपाद्य यह है कि भगत सिंह ने औपनिवेशिक न्यायालय को निष्क्रिय विधिक मंच के रूप में स्वीकार करने के बजाय उसे वैचारिक प्रतिरोध और जन-राजनीतिक संप्रेषण के सक्रिय माध्यम में रूपांतरित कर दिया। ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन द्वारा स्थापित न्यायिक संरचना स्वयं को 'कानून के शासन' की आधुनिक उदारवादी अवधारणा पर आधारित बताती थी; तथापि विशेष ट्रिब्यूनल की स्थापना, अपील के अधिकार का सीमितीकरण तथा दंड-प्रक्रिया में कार्यपालिका के हस्तक्षेप से स्पष्ट होता है कि औपनिवेशिक विधि वस्तुतः सत्ता-संरक्षण और वर्चस्व-स्थापन का उपकरण थी। प्रस्तुत अध्ययन राष्ट्रवादी, मार्क्सवादी और उत्तर-औपनिवेशिक इतिहासलेखन की तुलनात्मक समीक्षा के साथ न्यायालयीन वक्तव्यों, भूख हड़ताल तथा समकालीन प्रेस-विमर्श का प्रवचनात्मक विश्लेषण करता है। "इंकलाब जिंदाबाद" जैसे उद्घोषों के माध्यम से न्यायालय को एक प्रतीकात्मक राजनीतिक रंगमंच में

परिवर्तित किया गया, जहाँ विधिक वैधता और नैतिक-राजनीतिक वैधता के दावे परस्पर आमने-सामने उपस्थित हुए। मिशेल फूको की सत्ता-ज्ञान अवधारणा तथा एंतोनियो ग्राम्शी के वर्चस्व सिद्धांत के आलोक में यह प्रतिपादित किया गया है कि न्यायालय 'सत्य-उत्पादन' का औपनिवेशिक स्थल होते हुए भी वैकल्पिक सत्य-निर्माण की संभावनाओं से रिक्त नहीं था। भगत सिंह का मुकदमा औपनिवेशिक आधुनिकता के अंतर्विरोधों को उद्घाटित करता है तथा यह स्थापित करता है कि विधिक संरचनाएँ वैचारिक हस्तक्षेप द्वारा प्रतिरोध के मंच में रूपांतरित की जा सकती हैं। भगत सिंह का मुकदमा भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में न्याय, वैधता और राजनीतिक प्रतिरोध के प्रश्नों का एक निर्णायक क्षण सिद्ध होता है।

प्रस्तावना

औपनिवेशिक भारत में न्यायालय केवल विधिक विवादों के निपटारे की संस्था नहीं था, बल्कि वह औपनिवेशिक सत्ता की वैधता, नैतिकता और सभ्यतागत दावे का एक महत्वपूर्ण प्रतीक भी था। ब्रिटिश शासन ने स्वयं को विधि के शासन के आदर्श पर आधारित एक आधुनिक, तटस्थ और न्यायोन्मुख शासन के रूप में प्रस्तुत किया।[1]किंतु उत्तर-औपनिवेशिक इतिहासलेखन ने यह स्पष्ट किया है कि औपनिवेशिक विधिक संरचना तटस्थ न होकर सत्ता-समर्थक और वर्चस्व-संरक्षक थी।[2] इस संदर्भ में भगत सिंह का 1929 ई.- 1931 ई. के मध्य चला मुकदमा भारतीय राष्ट्रवादी राजनीति में एक निर्णायक मोड़ के रूप में उभरता है, जहाँ औपनिवेशिक न्यायालय स्वयं वैचारिक प्रतिरोध का मंच बन गया। 8 अप्रैल 1929 को केंद्रीय विधान सभा में बम फेंकने के उपरांत भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त द्वारा स्वेच्छा से आत्मसमर्पण करना एक सोची-समझी राजनीतिक रणनीति थी। उनका उद्देश्य हिंसात्मक विनाश नहीं, बल्कि औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध वैचारिक उद्घोष करना था।[3] बाद में लाहौर षड्यंत्र केस के अंतर्गत चले विस्तृत मुकदमे ने औपनिवेशिक विधि की सीमाओं को सार्वजनिक विमर्श का विषय बना दिया।[] यहाँ न्यायालय, जो औपनिवेशिक शासन की नैतिक श्रेष्ठता का प्रतीक था, क्रांतिकारी प्रतिरोध के मंच में रूपांतरित होने लगा।

इतिहासलेखन के स्तर पर इस मुकदमे की विभिन्न व्याख्याएँ मिलती हैं। राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने भगत सिंह को मुख्यतः शहादत और बलिदान के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है[], जहाँ मुकदमा उनके

अदम्य साहस और देशभक्ति का प्रमाण बनता है। मार्क्सवादी इतिहासकारों ने इस घटना को औपनिवेशिक पूँजीवादी संरचना के विरुद्ध वर्ग-संघर्ष की अभिव्यक्ति के रूप में देखा है।[] वहीं उत्तर-औपनिवेशिक विचारकों ने औपनिवेशिक न्यायालय को आधुनिकता और वर्चस्व के उपकरण के रूप में विश्लेषित करते हुए यह दिखाया है कि किस प्रकार विधिक संस्थाएँ सत्ता-संबंधों का पुनरुत्पादन करती हैं।[] इस पृष्ठभूमि में भगत सिंह का न्यायालयीन वक्तव्य एक प्रतिरोधी प्रवचन के रूप में उभरता है, जो औपनिवेशिक नैतिकता के दावे को चुनौती देता है। न्यायालय में दिया गया उनका प्रसिद्ध कथन– "*क्रांति की तलवार विचारों की सान पर तेज होती है।*" इस प्रवचनात्मक रूपांतरण का प्रतीक है।[] यह वक्तव्य केवल एक नारा नहीं, बल्कि औपनिवेशिक विधिक संरचना के भीतर विचार-आधारित क्रांति की उद्घोषणा था। यदि मिशेल फूको के सत्ता-ज्ञान संबंधी प्रतिपादनों को ध्यान में रखें, तो न्यायालय को एक ऐसे स्थल के रूप में देखा जा सकता है जहाँ सत्ता स्वयं को वैध सिद्ध करती है।[] किंतु भगत सिंह ने उसी स्थल को प्रतिरोध और वैचारिक पुनर्संरचना का माध्यम बना दिया। इस प्रकार न्यायालय "वर्चस्व के पुनरुत्पादन" का स्थान न रहकर "संघर्ष का स्थल" बन गया। इस शोध पत्र का केंद्रीय प्रतिपाद्य यह है कि भगत सिंह का मुकदमा औपनिवेशिक आधुनिकता की संरचना के भीतर प्रतिरोध की संभावनाओं को उद्घाटित करता है। उन्होंने न केवल विधिक प्रक्रिया को चुनौती दी, बल्कि उसे जन-राजनीतिक संवाद में परिवर्तित किया। न्यायालयीन वक्तव्यों, भूख हड़ताल और प्रेस-प्रतिक्रियाओं के माध्यम से मुकदमा एक राजनीतिक प्रदर्शन में बदल गया, जिसने औपनिवेशिक सत्ता की नैतिक वैधता को प्रश्नांकित किया।[1][] इस प्रकार भगत सिंह का मुकदमा भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में एक वैचारिक मोड़ था, जहाँ औपनिवेशिक न्यायालय स्वयं प्रतिरोध का मंच बन गया।

औपनिवेशिक विधिक संरचना और भगत सिंह के मुकदमे का विश्लेषण:

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन में न्यायालय केवल विधिक संस्था नहीं था, बल्कि वह साम्राज्यवादी शासन की वैधानिकता का केंद्रीय स्तंभ था। औपनिवेशिक विधि की स्थापना का घोषित उद्देश्य भारतीय समाज में 'कानून का शासन' स्थापित करना था, किंतु वस्तुतः यह शासन-संरचना औपनिवेशिक नियंत्रण को संस्थागत रूप देने का माध्यम थी।[11] भारतीय दंड संहिता 1860 और आपराधिक दंड प्रक्रिया संहिता जैसे विधिक प्रावधान औपनिवेशिक राज्य की सुरक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता देते थे।[12] इस प्रकार न्यायालय सत्ता के संरक्षण का औपचारिक उपकरण बन गया। स संदर्भ में 1929 का विधानसभा बम प्रकरण और उसके पश्चात चला भगत सिंह के मुकदमे में औपनिवेशिक विधि की सीमाओं को उद्घाटित करने वाली ऐतिहासिक घटना सिद्ध हुआ। 8 अप्रैल 1929 को केंद्रीय विधानसभा में बम फेंकने की घटना के बाद भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त द्वारा आत्मसमर्पण ने मुकदमे को एक असाधारण राजनीतिक आयाम

प्रदान किया। सामान्यतः अभियुक्त न्यायालय में दंड से बचने का प्रयास करते हैं, किंतु यहाँ अभियुक्तों ने स्वयं को न्यायालयीन विमर्श का सक्रिय वक्ता बना दिया।[13] यह कदम औपनिवेशिक विधिक प्रक्रिया को चुनौती देने की एक रणनीतिक पहल थी। भगत सिंह के मुकदमे के अंतर्गत गठित विशेष न्यायाधिकरण ने सामान्य न्यायिक प्रक्रिया से हटकर कार्य किया। इस विशेष ट्रिब्यूनल का गठन अध्यादेश द्वारा किया गया था, जिसने अपील के सामान्य अधिकार को सीमित कर दिया।[1] इस प्रकार औपनिवेशिक राज्य ने विधिक प्रक्रिया को अपने अनुकूल रूपांतरित किया, जिससे यह स्पष्ट होता है कि न्याय की तटस्थता एक मिथकीय दावा मात्र थी। यहाँ विधि सत्ता की सहायक बनकर सामने आई।

न्यायालयीन कार्यवाही के दौरान भगत सिंह और उनके साथियों ने जिस प्रकार राजनीतिक वक्तव्य दिए, वह औपनिवेशिक विधिक संरचना के भीतर एक प्रतिरोधी प्रवचन का निर्माण था। उनके वक्तव्यों में यह स्पष्ट था कि वे स्वयं को अपराधी नहीं, बल्कि औपनिवेशिक दमन के विरुद्ध संघर्षरत राजनीतिक कार्यकर्ता मानते थे।[1] इस प्रकार न्यायालय का औपचारिक ढाँचा एक वैचारिक संघर्ष-स्थल में परिवर्तित हो गया। मिशेल फूको के सत्ता-ज्ञान संबंधी प्रतिपादन के आलोक में देखें तो न्यायालय वह स्थल था जहाँ सत्ता अपने ज्ञान-तंत्र के माध्यम से सत्य का निर्माण करती है।[1]; किंतु भगत सिंह ने उसी स्थल पर वैकल्पिक सत्य का प्रतिपादन किया। भूख हड़ताल की रणनीति ने इस प्रवचनात्मक संघर्ष को और व्यापक बना दिया। जेल में राजनीतिक कैदियों के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार के विरोध में प्रारंभ हुई भूख हड़ताल ने औपनिवेशिक न्याय-व्यवस्था की नैतिकता को प्रश्नांकित किया।[1] यह संघर्ष केवल कारागार की स्थितियों तक सीमित नहीं था, बल्कि उसने न्यायालयीन प्रक्रिया को जन-संवेदना से जोड़ दिया। प्रेस रिपोर्टों और जनसभाओं के माध्यम से मुकदमा राष्ट्रीय विमर्श का विषय बन गया।[1] यहाँ न्यायालय एक सीमित विधिक परिसर न रहकर सार्वजनिक राजनीतिक मंच में रूपांतरित हो गया। इतिहासलेखन में इस मुकदमे को लेकर विभिन्न मत मिलते हैं। कुछ इतिहासकार इसे औपनिवेशिक दमन का उदाहरण मानते हैं, जबकि अन्य इसे क्रांतिकारी राजनीति के उत्कर्ष का क्षण बताते हैं।[1] किंतु प्रवचनात्मक दृष्टि से देखें तो यह मुकदमा औपनिवेशिक वर्चस्व और राष्ट्रवादी प्रतिरोध के मध्य संवादात्मक टकराव था। न्यायालय का प्रत्येक सत्र एक प्रतीकात्मक संघर्ष में परिवर्तित हो गया था, जहाँ औपनिवेशिक राज्य वैधानिक अधिकार का दावा करता था और क्रांतिकारी पक्ष नैतिक वैधता का। इस प्रकार भगत सिंह का मुकदमा केवल एक दंडात्मक प्रक्रिया नहीं, बल्कि औपनिवेशिक आधुनिकता के दावों की परीक्षा का क्षण था। भगत सिंह ने न्यायालय को प्रतिरोध के मंच में बदलकर यह सिद्ध किया कि विधिक संरचनाएँ पूर्णतः निरपेक्ष नहीं होतीं; वे वैचारिक हस्तक्षेपों से रूपांतरित की जा सकती हैं। इस प्रकार यही स्पष्ट

होता है कि उपनिवेशी न्यायालय का प्रतिरोधी रूपांतरण भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में एक वैचारिक क्रांति का संकेतक था।

न्यायालयीन वक्तव्य, "इंकलाब जिंदाबाद" और राजनीतिक प्रदर्शन का सिद्धांत

लाहौर षड्यंत्र केस के दौरान न्यायालयीन कार्यवाही केवल विधिक प्रश्नों तक सीमित नहीं रही, बल्कि वह वैचारिक संघर्ष का सार्वजनिक मंच बन गई। भगतसिंह द्वारा दिए गए वक्तव्यों का सूक्ष्म विश्लेषण यह दर्शाता है कि वे पारंपरिक बचाव-युक्तियों से भिन्न थे। उन्होंने अपने ऊपर लगे आरोपों का खंडन करने के स्थान पर औपनिवेशिक शासन की वैधता को चुनौती दी। यह रणनीति प्रवचनात्मक हस्तक्षेप का उदाहरण है, जिसमें अभियुक्त न्यायालय के औपचारिक ढाँचे को वैचारिक संवाद में रूपांतरित करता है।[20] उनके वक्तव्यों की भाषा में तीन प्रमुख आयाम उभरते हैं- नैतिक प्रतिरोध, वैचारिक स्पष्टता और जन-संबोधन। नैतिक प्रतिरोध इस रूप में प्रकट होता है कि वे स्वयं को अपराधी न मानकर एक राजनीतिक योद्धा के रूप में प्रस्तुत करते हैं।[21] वैचारिक स्पष्टता इस तथ्य में निहित है कि वे क्रांति को अराजक हिंसा नहीं, बल्कि सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित करते हैं। जन-संबोधन की दृष्टि से उनके वक्तव्य न्यायाधीशों से अधिक भारतीय जनता को लक्ष्य करते हैं। इस प्रकार न्यायालय एक सीमित विधिक मंच न रहकर व्यापक राजनीतिक संप्रेषण का माध्यम बन जाता है। "इंकलाब जिंदाबाद" का उद्घोष इस प्रवचनात्मक राजनीति का केंद्रीय तत्व था। प्रारंभ में यह नारा औपनिवेशिक विरोध का प्रतीक मात्र प्रतीत हो सकता है, किंतु इसके भाषिक-संरचनात्मक विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि यह स्थायी सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा का द्योतक था।[22] 'इंकलाब' शब्द यहाँ सत्ता-परिवर्तन से अधिक संरचनात्मक परिवर्तन का संकेत देता है। न्यायालय में इस उद्घोष की पुनरावृत्ति ने विधिक प्रक्रिया को प्रतीकात्मक प्रतिरोध में रूपांतरित कर दिया। औपनिवेशिक राज्य जहाँ अनुशासन और नियंत्रण का प्रदर्शन करना चाहता था, वहीं यह उद्घोष उसकी वैधता को प्रश्नांकित करता रहा।राजनीतिक प्रदर्शन के सिद्धांत के आलोक में देखें तो यह मुकदमा एक नाटकीय संरचना धारण कर लेता है। न्यायालय एक रंगमंच है, जहाँ औपनिवेशिक न्यायाधीश, अभियोजक और अभियुक्त अपने-अपने वैचारिक पात्रों का निर्वाह करते हैं।[23] किंतु यहाँ अभिनेताओं की भूमिकाएँ स्थिर नहीं रहतीं। अभियुक्त स्वयं को नैतिक नायक के रूप में स्थापित करते हैं, जबकि न्यायालय औपनिवेशिक शक्ति के प्रतिनिधि के रूप में सामने आता है। यह रूपांतरण न्यायिक प्रक्रिया को प्रतीकात्मक संघर्ष में परिवर्तित कर देता है।

मिशेल फूको की सत्ता-ज्ञान अवधारणा के अनुसार न्यायालय वह स्थान है जहाँ सत्ता 'सत्य' का निर्माण करती है।[24] किंतु भगत सिंह ने उसी मंच पर वैकल्पिक सत्य का निर्माण किया,ऐसा सत्य जो

औपनिवेशिक शासन को अन्यायपूर्ण और दमनकारी सिद्ध करता है। इस प्रकार मुकदमा 'सत्य के उत्पादन' की प्रतिस्पर्धा में बदल जाता है। औपनिवेशिक न्यायालय कानूनी तर्कों के माध्यम से अपराध सिद्ध करना चाहता था, जबकि क्रांतिकारी पक्ष नैतिक-राजनीतिक तर्कों के माध्यम से औपनिवेशिक शासन को कटघरे में खड़ा कर रहा था। भूख हड़ताल ने इस राजनीतिक प्रदर्शन को और तीव्र बना दिया। कारागार की अमानवीय परिस्थितियों के विरुद्ध आरंभ हुई इस हड़ताल ने न्यायालयीन विमर्श को नैतिक संकट में डाल दिया[25]। यदि औपनिवेशिक शासन स्वयं को न्यायपूर्ण और सभ्य घोषित करता था, तो राजनीतिक कैदियों के साथ असमान व्यवहार उसके दावे को कमजोर करता था। इस प्रकार कारागार और न्यायालय दोनों औपनिवेशिक सत्ता की नैतिक परीक्षा के स्थल बन गए। प्रेस कवरेज और जनसभाओं के माध्यम से मुकदमे का प्रभाव न्यायालय की सीमाओं से बाहर फैल गया[26]। न्यायालयीन कार्यवाही के समाचारों ने जनमत को प्रभावित किया और भगत सिंह की छवि एक वैचारिक योद्धा के रूप में स्थापित की। यह प्रवचनात्मक विस्तार दर्शाता है कि मुकदमा केवल विधिक परिघटना नहीं था, बल्कि एक व्यापक राजनीतिक संचार-प्रक्रिया का अंग था। न्यायालयीन वक्तव्य और प्रतीकात्मक उद्घोषों के माध्यम से भगत सिंह ने औपनिवेशिक न्यायालय को प्रतिरोधी मंच में रूपांतरित किया। यह रूपांतरण न तो आकस्मिक था और न ही केवल भावनात्मक प्रतिक्रिया; यह एक सुविचारित राजनीतिक रणनीति थी। न्यायालय, जो औपनिवेशिक वर्चस्व का प्रतीक था, उसी के भीतर प्रतिरोध का वैकल्पिक प्रवचन निर्मित हुआ। इस प्रकार लाहौर षड्यंत्र केस आधुनिक भारत के इतिहास में वैचारिक संघर्ष की एक विशिष्ट घटना के रूप में स्थापित होता है।

इतिहासलेखन का तुलनात्मक विश्लेषण :

लाहौर षड्यंत्र केस और भगत सिंह के मुकदमे की व्याख्या भारतीय इतिहासलेखन में विविध दृष्टियों से की गई है। इतिहासलेखन का यह बहुलतावादी स्वरूप स्वयं इस तथ्य की पुष्टि करता है कि यह मुकदमा केवल एक न्यायिक घटना नहीं, बल्कि वैचारिक संघर्ष का जटिल स्थल था। राष्ट्रवादी इतिहासलेखन ने प्रायः भगत सिंह को शहादत, साहस और राष्ट्रभक्ति के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है। इस दृष्टिकोण में मुकदमे को औपनिवेशिक दमन और क्रांतिकारी त्याग के नैतिक द्वंद्व के रूप में देखा गया है।[2] यहाँ न्यायालय अत्याचारी सत्ता का उपकरण है और भगत सिंह नैतिक नायक। यद्यपि यह व्याख्या जन-स्मृति के निर्माण में महत्वपूर्ण रही है, किंतु इसमें न्यायालयीन प्रवचन की जटिलता पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया गया है। मार्क्सवादी इतिहासलेखन इस घटना को व्यापक वर्ग-संघर्ष और औपनिवेशिक पूँजीवाद के परिप्रेक्ष्य में रखता है। इस दृष्टि में भगत सिंह का मुकदमा औपनिवेशिक राज्य-तंत्र और उभरती हुई समाजवादी चेतना के मध्य टकराव का उदाहरण है।[2] मार्क्सवादी विद्वानों के

अनुसार, विशेष ट्रिब्यूनल का गठन और अपील के अधिकार का सीमित किया जाना इस तथ्य को उजागर करता है कि औपनिवेशिक विधि शासक वर्ग के हितों की रक्षा करती थी।[2] यहाँ न्यायालय केवल विधिक संस्था नहीं, बल्कि वर्गीय प्रभुत्व का औजार बन जाता है। इस दृष्टिकोण का महत्व इस बात में है कि यह मुकदमे को आर्थिक-राजनीतिक संरचनाओं से जोड़ता है, परंतु कभी-कभी यह प्रवचनात्मक आयाम की सूक्ष्मता को अनदेखा कर देता है।

उत्तर-औपनिवेशिक इतिहासलेखन इस मुकदमे को औपनिवेशिक आधुनिकता के अंतर्विरोधों के संदर्भ में देखता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, औपनिवेशिक राज्य स्वयं को आधुनिक, विधिसम्मत और नैतिक घोषित करता है, किंतु उसकी विधिक संरचना अंततः वर्चस्व के पुनरुत्पादन का माध्यम होती है।[3] भगत सिंह द्वारा न्यायालय को प्रतिरोधी मंच में रूपांतरित करना इसी आधुनिकता के दावे को चुनौती देने की प्रक्रिया है। न्यायालय, जो औपनिवेशिक सत्ता का प्रतीक था, उसी के भीतर वैकल्पिक राजनीतिक भाषा का निर्माण हुआ। इस प्रकार मुकदमा "औपनिवेशिक आधुनिकता के भीतर प्रतिरोध" का उदाहरण बन जाता है। इन तीनों इतिहासलेखन धाराओं की तुलनात्मक समीक्षा से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक दृष्टिकोण मुकदमे के एक विशिष्ट आयाम को रेखांकित करता है। राष्ट्रवादी व्याख्या नैतिकता और बलिदान पर बल देती है; मार्क्सवादी विश्लेषण संरचनात्मक सत्ता-संबंधों को उजागर करता है; जबकि उत्तर-औपनिवेशिक दृष्टि प्रवचन और आधुनिकता के अंतर्विरोधों को केंद्र में लाती है। किंतु यदि इन सभी को समन्वित किया जाए, तो यह निष्कर्ष उभरता है कि भगत सिंह का मुकदमा औपनिवेशिक न्यायालय के प्रतिरोधी रूपांतरण की एक बहुस्तरीय प्रक्रिया था–जिसमें नैतिक साहस, वर्गीय चेतना और प्रवचनात्मक रणनीति तीनों समाहित थे। लाहौर षड्यंत्र केस एक ऐसा ऐतिहासिक क्षण था जहाँ विधिक सत्ता और नैतिक वैधता के दावे परस्पर टकराए। औपनिवेशिक राज्य कानूनी औचित्य का सहारा ले रहा था, जबकि क्रांतिकारी पक्ष नैतिक-राजनीतिक औचित्य का। इस द्वंद्व ने न्यायालय को एक 'संघर्ष-स्थल' में बदल दिया। यहाँ विधिक भाषा और क्रांतिकारी भाषा के बीच प्रतिस्पर्धा थी, एक ओर दंड और अनुशासन का प्रवचन, दूसरी ओर स्वतंत्रता और सामाजिक परिवर्तन का। यह प्रवचनात्मक संघर्ष ही उस रूपांतरण की कुंजी है, जिसने न्यायालय को औपनिवेशिक वर्चस्व के प्रतीक से प्रतिरोध के मंच में बदल दिया। इतिहासलेखन की विविध धाराएँ मिलकर यह संकेत देती हैं कि भगत सिंह का मुकदमा आधुनिक भारत के राजनीतिक इतिहास में वैचारिक संघर्ष की एक अनूठी घटना थी। यह घटना इस तथ्य को रेखांकित करती है कि विधिक संरचनाएँ स्थिर और निरपेक्ष नहीं होतीं; वे वैचारिक हस्तक्षेपों के माध्यम से पुनर्परिभाषित की जा सकती हैं। न्यायालय का यह प्रतिरोधी रूपांतरण भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की राजनीतिक चेतना के विकास में एक निर्णायक मोड़ सिद्ध हुआ।

औपनिवेशिक विधि बनाम नैतिक वैधता :

लाहौर षड्यंत्र केस के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि औपनिवेशिक विधि और नैतिक वैधता के दावों के मध्य एक गहन अंतर्विरोध विद्यमान था। ब्रिटिश शासन ने विधिक औचित्य को अपने शासन की वैधता का आधार बनाया, किंतु इस औचित्य का स्वरूप सत्ता-संरक्षण की आवश्यकता से संचालित था।[31] औपनिवेशिक विधि का मूल उद्देश्य न्याय की सार्वभौमिक स्थापना नहीं, बल्कि शासन की निरंतरता सुनिश्चित करना था। इस संदर्भ में भगत सिंह का मुकदमा विधिक वैधता और नैतिक वैधता के संघर्ष का प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करता है। औपनिवेशिक न्यायालय ने स्वयं को विधिक तटस्थता का प्रतीक घोषित किया, परंतु विशेष ट्रिब्यूनल का गठन और अपील के अधिकार का सीमित किया जाना इस दावे को कमजोर करता है।[32] विधिक प्रक्रिया को राज्य की आवश्यकता के अनुरूप परिवर्तित करना यह दर्शाता है कि कानून स्वयं सत्ता-संबंधों से मुक्त नहीं था। इस बिंदु पर मार्क्सवादी और उत्तर-औपनिवेशिक विश्लेषण परस्पर मिलते हैं, दोनों इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि विधि, वर्चस्व के पुनरुत्पादन का माध्यम बन सकती है।[33]

नैतिक वैधता का प्रश्न तब और तीव्र हो उठता है जब कारागार को विश्लेषण में सम्मिलित किया जाता है। भगत सिंह और उनके साथियों द्वारा की गई भूख हड़ताल ने कारागार को औपनिवेशिक सत्ता की नैतिक परीक्षा का स्थल बना दिया।[3] कारागार, जो अनुशासन और नियंत्रण का प्रतीक था, प्रतिरोध और नैतिक चुनौती का मंच बन गया। यदि न्यायालय औपनिवेशिक आधुनिकता की विधिक अभिव्यक्ति था, तो कारागार उसकी अनुशासनात्मक संरचना का प्रतीक था। किंतु दोनों ही स्थानों पर क्रांतिकारी हस्तक्षेप ने सत्ता के दावे को चुनौती दी। सार्वजनिक क्षेत्र के संदर्भ में देखें तो मुकदमे का प्रभाव न्यायालय की सीमाओं से परे विस्तृत हुआ। समाचारपत्रों, जनसभाओं और राजनीतिक संगठनों के माध्यम से यह मुकदमा राष्ट्रीय चेतना का विषय बन गया।[3] न्यायालयीन वक्तव्यों और भूख हड़ताल की सूचनाओं ने जनमत को प्रभावित किया। इस प्रकार मुकदमा एक विधिक घटना से आगे बढ़कर सार्वजनिक विमर्श का केंद्रीय तत्व बन गया। यह प्रक्रिया दर्शाती है कि औपनिवेशिक राज्य द्वारा नियंत्रित संस्थाएँ भी वैचारिक पुनर्परिभाषा के माध्यम से प्रतिरोध का माध्यम बन सकती हैं। सैद्धांतिक स्तर पर यह कहा जा सकता है कि लाहौर षड्यंत्र केस 'विधिक औचित्य' और 'नैतिक औचित्य' के मध्य प्रतिस्पर्धा का ऐतिहासिक क्षण था। औपनिवेशिक राज्य अपने विधिक अधिकार का दावा कर रहा था, जबकि क्रांतिकारी पक्ष नैतिक और राजनीतिक अधिकार का। यह प्रतिस्पर्धा केवल न्यायालयीन बहसों तक सीमित नहीं रही, बल्कि भारतीय जनता के समक्ष एक व्यापक वैचारिक प्रश्न के रूप में उभरी- क्या विधिक प्रक्रिया सदैव न्यायपूर्ण होती है, या वह सत्ता-संबंधों से संचालित हो सकती है? समकालीन संदर्भ में इस अध्ययन का

महत्व और भी स्पष्ट हो जाता है। आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में न्यायालय को तटस्थ और सर्वोच्च नैतिक संस्था माना जाता है। किंतु इतिहास यह दर्शाता है कि विधिक संरचनाएँ सत्ता-संबंधों से मुक्त नहीं होतीं। भगत सिंह का मुकदमा इस तथ्य की ऐतिहासिक याद दिलाता है कि न्यायालय, यदि वैचारिक रूप से चुनौती दी जाए, तो प्रतिरोध का मंच भी बन सकता है। इस प्रकार उपनिवेशी न्यायालय का प्रतिरोधी रूपांतरण भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की वैचारिक विरासत का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। लाहौर षड्यंत्र केस केवल एक विधिक प्रक्रिया नहीं, बल्कि आधुनिक भारत के राजनीतिक इतिहास में वैधता, न्याय और प्रतिरोध के प्रश्नों का संगम था। औपनिवेशिक विधि की औपचारिकता और क्रांतिकारी नैतिकता के बीच यह संघर्ष भारतीय जनमानस में न्याय की अवधारणा को पुनर्परिभाषित करने वाला सिद्ध हुआ। न्यायालय और कारागार दोनों औपनिवेशिक सत्ता के प्रतीक थे, किंतु वैचारिक हस्तक्षेप ने उन्हें प्रतिरोध के मंच में रूपांतरित कर दिया।

निष्कर्ष

लाहौर षड्यंत्र केस का समग्र विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि औपनिवेशिक न्यायालय का प्रतिरोधी रूपांतरण एक बहुस्तरीय ऐतिहासिक प्रक्रिया थी। यह प्रक्रिया केवल न्यायालयीन वक्तव्यों तक सीमित नहीं थी, बल्कि विधिक संरचना, कारागार-व्यवस्था, सार्वजनिक क्षेत्र और इतिहासलेखन के स्तरों पर विस्तृत थी। भगत सिंह द्वारा अपनाई गई रणनीति ने औपनिवेशिक आधुनिकता के उस दावे को चुनौती दी, जिसमें विधि को तटस्थ और सार्वभौमिक बताया जाता था[3]। यदि इस मुकदमे को समन्वित सैद्धांतिक दृष्टि से देखें तो यह स्पष्ट होता है कि यहाँ तीन स्तरों पर संघर्ष चल रहा था- विधिक, नैतिक और प्रवचनात्मक। विधिक स्तर पर औपनिवेशिक राज्य दंड-संहिता और विशेष ट्रिब्यूनल के माध्यम से अपनी वैधानिकता स्थापित करना चाहता था।[3] नैतिक स्तर पर क्रांतिकारी पक्ष यह सिद्ध करना चाहता था कि औपनिवेशिक शासन स्वयं अन्यायपूर्ण है, अतः उसके द्वारा प्रदत्त दंड नैतिक रूप से वैध नहीं हो सकता।[3] प्रवचनात्मक स्तर पर न्यायालय एक ऐसा मंच बन गया जहाँ 'सत्य' के दो प्रतिस्पर्धी संस्करण आमने-सामने थे- **एक** औपनिवेशिक सत्ता द्वारा निर्मित, **दूसरा** क्रांतिकारी प्रतिरोध द्वारा प्रतिपादित।[3] इस मुकदमे की ऐतिहासिक विशेषता इस तथ्य में निहित है कि अभियुक्तों ने स्वयं को निष्क्रिय प्रतिवादी के रूप में प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने न्यायालय की भाषा, संरचना और प्रक्रियाओं को वैचारिक हस्तक्षेप के माध्यम से पुनर्परिभाषित किया। यह पुनर्परिभाषा औपनिवेशिक विधि के भीतर रहते हुए की गई, जिससे यह सिद्ध होता है कि सत्ता-संरचनाएँ पूर्णतः अभेद्य नहीं होतीं; वे प्रतिरोध के लिए स्थान छोड़ती हैं।[] न्यायालय का यह प्रतिरोधी रूपांतरण भारतीय राजनीतिक चेतना के विकास में एक निर्णायक क्षण था।

इतिहासलेखन की विविध धाराओं- राष्ट्रवादी, मार्क्सवादी और उत्तर-औपनिवेशिक का समन्वय यह दर्शाता है कि भगत सिंह का मुकदमा बहुआयामी अर्थ-संरचना रखता है। राष्ट्रवादी विमर्श इसे शहादत और बलिदान के प्रतीक के रूप में देखता है; मार्क्सवादी विश्लेषण इसे वर्ग-संघर्ष और औपनिवेशिक पूँजीवाद के प्रतिरोध के रूप में; जबकि उत्तर-औपनिवेशिक दृष्टि इसे औपनिवेशिक आधुनिकता के अंतर्विरोधों की अभिव्यक्ति मानती है।[1] इन सभी दृष्टियों का समावेश यह सिद्ध करता है कि न्यायालयीन प्रक्रिया केवल विधिक घटना नहीं थी, बल्कि आधुनिक भारत के वैचारिक इतिहास का केंद्रीय अध्याय थी। समकालीन संदर्भ में यह अध्ययन यह संकेत देता है कि न्यायालय और विधि की संस्थाएँ लोकतांत्रिक समाज में भी पूर्णतः निरपेक्ष नहीं मानी जा सकतीं। वे सामाजिक-राजनीतिक शक्तियों से प्रभावित होती हैं। भगत सिंह का मुकदमा यह ऐतिहासिक शिक्षा देता है कि न्यायालय को वैचारिक संवाद और नैतिक चुनौती के मंच में रूपांतरित किया जा सकता है। इस प्रकार यह अध्ययन भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास को केवल राजनीतिक घटनाओं की श्रृंखला के रूप में नहीं, बल्कि वैचारिक और प्रवचनात्मक संघर्षों की जटिल प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करता है। लाहौर षड्यंत्र केस औपनिवेशिक न्यायालय के प्रतिरोधी रूपांतरण आकस्मिक नहीं था, बल्कि सुविचारित रणनीति, वैचारिक स्पष्टता और नैतिक साहस का परिणाम था। न्यायालय, जो औपनिवेशिक वर्चस्व का प्रतीक था, उसी के भीतर प्रतिरोध की वैकल्पिक भाषा का निर्माण हुआ।

सन्दर्भ

- कोहन, बर्नार्ड एस.,*कोलोनियलिज़्म ऐंड इट्स फॉर्म्स ऑफ नॉलेज: द ब्रिटिश इन इंडिया,* प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, 1996, पृ. 57
- गुहा, रणजीत. *डॉमिनेंस विदआउट हेगेमनी: हिस्ट्री ऐंड पावर इन कोलोनियल इंडिया.* हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, मैसाचुसेट्स, 1997, पृ. 12
- सिंह, भगत. *स्टेटमेंट इन द असेंबली बॉम्ब केस.* 1929, पृ. 3
- नूरानी, ए. जी. *द ट्रायल ऑफ भगत सिंह: पॉलिटिक्स ऑफ जस्टिस.* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1996, पृ. 211
- चंद्र, बिपन, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी, के. एन. पनिक्कर, और सुचेता महाजन. *इंडियाज़ स्ट्रगल फॉर इंडिपेंडेंस.* पेंगुइन बुक्स इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 1989, पृ. 249
- सरकार, सुमित. *मॉडर्न इंडिया: 1885-1947.* मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, 1983, पृ. 312

- चटर्जी, पार्थ. *द नेशन ऐंड इट्स फ्रैगमेंट्स: कोलोनियल ऐंड पोस्टकोलोनियल हिस्ट्रीज़.* प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, 1993, पृ. 23
- सिंह, भगत. *स्टेटमेंट इन द असेंबली बॉम्ब केस.* 1929, पृ. 5
- फूको, मिशेल. *पावर-नॉलेज: सेलेक्टेड इंटरव्यूज़ ऐंड अदर राइटिंग्स 1972-1977.* पैंथियन बुक्स, न्यूयॉर्क, 1980, पृ. 98
- चक्रवर्ती, दीपेश. *प्रोविंशियलाइजिंग यूरोप: पोस्टकोलोनियल थॉट ऐंड हिस्टोरिकल डिफरेंस.* प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, 2000, पृ. 45
- मेटकाफ, थॉमस आर. *आइडियोलॉजीज़ ऑफ द राज.* कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, 1995, पृ. 102
- ब्राउन, जुडिथ एम. मॉडर्न इंडिया: द ओरिजिन्स ऑफ ऐन एशियन डेमोक्रेसी. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड, 1985, पृ. 178
- नूरानी, ए. जी. पूर्वोक्त, पृ. 245
- वही, पृ. 263
- सिंह, भगत. *स्टेटमेंट बिफोर द लाहौर ट्रिब्यूनल.* 1930, पृ. 7
- फूको, मिशेल. पूर्वोक्त, पृ. 131
- सरकार, सुमित. पूर्वोक्त, पृ. 318
- चंद्र, बिपन, आदि. पूर्वोक्त, पृ. 252
- गुहा, रणजीत. पूर्वोक्त, पृ. 147
- नूरानी, ए. जी., पूर्वोक्त, पृ. 301
- सिंह, भगत, पूर्वोक्त, पृ. 9
- चंद्र, बिपन, आदि पूर्वोक्त, पृ. 254
- गॉफमैन, एर्विंग. *द प्रेज़ेंटेशन ऑफ सेल्फ इन एवरीडे लाइफ.* एंकर बुक्स, न्यूयॉर्क, 1959, पृ. 112
- फूको, मिशेल पूर्वोक्त, पृ. 133
- सरकार, सुमित, पूर्वोक्त,पृ. 320
- ब्राउन, जुडिथ एम., पूर्वोक्त, पृ. 182
- चंद्र, बिपन, आदि., पूर्वोक्त, पृ. 256
- सरकार, सुमित, पूर्वोक्त, पृ. 322
- नूरानी, ए. जी.,पूर्वोक्त, पृ. 315

- चटर्जी, पार्थ, पूर्वोक्त, पृ. 29
- मेटकाफ, थॉमस आर., पूर्वोक्त, पृ. 118
- नूरानी, ए. जी., पूर्वोक्त, पृ. 327
- गुहा, रणजीत. पूर्वोक्त, पृ. 162
- सरकार, सुमित., पूर्वोक्त, पृ. 325
- ब्राउन, जुडिथ एम., पूर्वोक्त, पृ. 189
- चक्रवर्ती, दीपेश, पूर्वोक्त, पृ. 51
- नूरानी, ए. जी., पूर्वोक्त, पृ. 341
- सिंह, भगत, पूर्वोक्त, पृ. 15
- फूको, मिशेल, पूर्वोक्त, पृ. 142
- ग्राम्शी, एंतोनियो, *सेलेक्शंस फ्रॉम द प्रिजन नोटबुक्स,* इंटरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क, 1971, पृ. 210
- चटर्जी, पार्थ, पूर्वोक्त, पृ. 37